जनसत्ता

तोपखाने की ताकत

लंबे समय के बाद भारतीय सेना को 'धनुष' और 'सारंग' जैसी अत्याधुनिक तोपें मिलने जा रही हैं। इन तोपों का परीक्षण काफी समय से चल रहा था और हर स्तर पर ये खरी साबित हुई हैं। पिछले तीन दशक से थल सेना का तोपखाना एक तरह से खाली पड़ा था, जबकि देश की सुरक्षा के लिए ऐसी तोपों की जरूरत बढ़ती जा रही है। ऐसे में सेना को तोपों का बेड़ा मिलना रक्षा तंत्र को मजबूत करने की दिशा में बड़ा कदम है। धनुष को बोफर्स की जगह और सारंग को रूसी एम-46 की जगह तैनात किया जाएगा। इससे थल सेना की ताकत में इजाफा होगा। धनुष और सारंग की खूबी यह है कि ये दोनों ही पूरी तरह से भारत में बनाई गई हैं। मेक इन इंडिया के तहत इन स्वदेशी तोपों के निर्माण से यह तो साबित हो ही गया है कि तोप और टैंक जैसे सैन्य सामान बनाने में भारत पूरी तरह सक्षम है और किसी देश का मुंह नहीं ताकना पड़ेगा। अस्सी के दशक में भारत ने स्वीडन से बोफर्स तोपों का सौदा किया था और चार सौ से ज्यादा तोपें खरीदी गई थीं। लेकिन इस सौदे में दलाली के आरोपों के बाद और तोपें नहीं खरीदी गईं।

सेना तोपों का इस्तेमाल मैदान से लेकर पहाड़ी इलाकों तक में करती है। पिछले दो-तीन दशकों से सेना को जिस तरह के अत्याधुनिक साजो-सामान की जरूरत पड़ती रही है, बोफर्स और रूसी एम-46 तोपें उन जरूरतों को पूरा नहीं कर पा रही थीं। लेकिन अब धनुष और सारंग इस कमी को दूर करेंगी। धनुष की गिनती दुनिया की उन चंद तोपों में की जाती है जिनकी मारक क्षमता उल्लेखनीय है। यह बोफर्स से अठारह किलोमीटर ज्यादा मार कर पाने में कामयाब है। इसकी खूबी यह है कि एक मिनट में दो गोले दाग सकती है और लगातार दो घंटे तक काम कर सकती है। यह सियाचिन से लेकर पोकरण के रेगिस्तान तक हर मौसम में खरी उतरी है। फिलहाल पहले चरण में सेना को चार सौ चौदह तोपें मिलेंगी। जबकि सारंग की मारक क्षमता रूसी एम-46 के मुकाबले तो ज्यादा है ही, साथ ही पहाड़ी इलाकों में यह सत्तर डिग्री तक घूम सकती है। इस दृष्टि से पहाड़ी युद्ध क्षेत्रों में यह ज्यादा उपादेय साबित होगी।

भारत को पिछले कई दशकों से पाकिस्तान और चीन जैसे पड़ोसियों से गंभीर रक्षा चुनौतियां मिलती रही हैं। दोनों देशों के साथ भारत को युद्धों का सामना करना पड़ा है। ऐसे में यह जरूरी है कि सैन्य ताकत में भारत दोनों के मुकाबले कम न रहे। इसके लिए सेना को हमेशा नए हथियारों और साजो-सामान से लैस करते रहना होगा। लेकिन विडंबना यह रही है कि इस मामले में चीन और पाकिस्तान भारत से कहीं आगे हैं। बोफर्स तोपें तीस साल से भी पुरानी पड़ चुकी हैं। रूसी तोप तो 1968 से सेना के पास है। अंदाजा लगाया जा सकता है कि हमारी सेना कितना जोखिम उठाते हुए दुर्गम क्षेत्रों में ऐसे पुराने हथियारों के बल पर दुश्मन से लोहा लेती रही। सेना को सिर्फ तोपों की कमी नहीं, छोटे हथियारों तक की कमी से जूझना पड़ रहा है। जिन हथियारों की जरूरत आज से बीस साल पहले थी, वे उसके पास आज भी नहीं हैं। भारत के नियंत्रक और महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट तक में हथियारों और गोला-बारूद की कमी का जिक्र होता रहा है। संसदीय समितियां तक हथियारों की कमी पर चिंता जाहिर कर चुकी हैं। ऐसे में रक्षा क्षेत्र में अगर मेक इन इंडिया का सपना साकार हो रहा है तो यह एक बड़ी उपलब्धि है।

शान की सनक

किसी खुशी के मौके पर उत्साहित होना या नाचना-गाना एक स्वाभाविक गतिविधि है। लेकिन अगर इस क्रम में शान का दिखावा करने के लिए गोलीबारी शुरू कर दी जाए तो यह अपराध से कम नहीं है। हालत यह है कि कई लोग किसी भी उत्सव और जश्न के समय नशा करना और बेलगाम हरकतें करना अपने जश्न का हिस्सा मान लेते हैं। साल के पहले दिन अकेले दिल्ली में जश्न के शौक में गोली चलने की तीन घटनाएं ऐसी हुईं, जिनमें किसी के बेलगाम शौक की वजह से कहीं बच्चे की जान चली गई, तो कोई बुरी तरह घायल हो गया। दक्षिणी दिल्ली के फतेहपुर बेरी में स्थित बिहार के एक विधायक के फार्महाउस में सोमवार रात नए साल के जश्न में चल रही पार्टी में आई एक महिला तब गंभीर रूप से घायल हो गई, जब विधायक ने उत्साह में पिस्तौल से गोली चला दी। इसके अलावा, वेलकम इलाके में चल रही पार्टी के दौरान किसी के गोली चलाने से एक बच्चा बुरी तरह घायल हो गया। न्यू उस्मानपुर में तो इसी तरह की घटना में लगी गोली से एक बच्चे की मौत हो गई।

यह किस तरह का शौक है जिसकी आग गोली चलाने से बुझती है? क्या किसी व्यक्ति के भीतर रसूख और शान के प्रदर्शन की भूख इस कदर बेलगाम हो सकती है कि उसे इस बात का खयाल रखना भी जरूरी नहीं लगे कि उसकी हरकतों से लोगों की जान जा सकती है? आए दिन ऐसी खबरें आती रहती हैं जिनमें किसी बारात या फिर किसी धार्मिक त्योहार या यात्रा के दौरान भी लोग कई बार खतरनाक हथियार लहराते हुए चलते हैं। नाचने-गाने या पटाखे छोड़ने के बीच कई बार हवा में की गई गोलीबारी में किसी व्यक्ति को गोली लग जाती है और उसकी जान भी चली जाती है। इसी तरह, पर्व-त्योहार या सार्वजनिक उत्सवों के लिए आयोजित पार्टी में कुछ लोग शान बघारने के लिए बंदूक या पिस्तौल लहरा कर गोली चलाने लगते हैं। सवाल है कि अगर किसी व्यक्ति के शौक की वजह से दूसरों की जान चली जाती है तो उसे किस तरह एक अपराध को बढ़ावा देने वाली परंपरा के रूप में नहीं देखा जाए? यह सही है कि इस तरह के बर्ताव को समाज या शासन की स्वीकार्यता नहीं मिली हुई है। लेकिन इसके जोखिम के बावजूद समाज या शासन के स्तर पर विवाह, जश्न, त्योहार या यात्रा के मौके पर हथियार लहराने या चलाने वाले लोगों के खिलाफ ठोस आवाज या कार्रवाई देखने में नहीं आती।

यह समझना मुश्किल है कि खुशी मनाने या जताने के लिए लोगों को हथियारों का सहारा लेने की प्रेरणा कहां से मिलती है! यह किस तरह की मानसिकता है जिसमें उत्साह बेलगाम होकर हिंसक हो जाता है? क्या यह समाज के मानस और सोचने-समझने के तरीके में घुली सामंती मानसिकता है, जो हमेशा खुद को सर्वश्रेष्ठ समझने के क्रम में अपनी हद का खयाल रखना नहीं सिखाती? गोली चला कर या हथियार लहरा कर खुशी या शान का प्रदर्शन करने को किस तरह एक सभ्य समाज के व्यवहार के रूप में देखा जा सकता है? यह ध्यान रखने की जरूरत है कि किसी भी खुशी, त्योहार या समारोह में हथियारों का प्रदर्शन या उसका इस्तेमाल दरअसल व्यक्ति के भीतर गहरे पैठी हिंसक कुंठाओं की अभिव्यक्ति है। खुशी और उत्साह एक मनोभाव है और अगर इसका प्रसार सकारात्मक भाव पैदा करता है, तभी इसकी सार्थकता है। लेकिन अगर इसके प्रदर्शन से हिंसा या आक्रामकता का भाव पैदा होता है तो शायद हमारे ऐसे व्यवहार को सभ्य होने की कसौटी पर खरा उतरना अभी बाकी है।

कल्पमेधा

सर्वोत्तम बदला क्षमा कर देना है।
-रवींद्रनाथ ठाकुर

जेल सुधार की दीवारें

रिजवान अंसारी

सबसे अहम सवाल यह है कि जब देश भर में मानवाधिकारों पर बहस छिड़ी हुई है तब कैदियों के अधिकार के लिए सरकारें गंभीर क्यों नहीं हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि सरकारें सिर्फ इसलिए खामोश रहती हैं कि कैदियों का मुद्दा किसी दल के वोट बैंक में इजाफा नहीं करता? या फिर यह मान लिया जाए कि हमारी सरकारें महंगे होते इंसाफ और जेल में कैदियों की बढ़ती भीड़ से होने वाले आर्थिक नुकसान से अनजान हैं।

पिछले दिनों दो अच्छी बातें देखने को मिलीं और ये दोनों ही सर्वोच्च न्यायालय की कोशिशों का नतीजा हैं। पहली तो यह कि अधीनस्थ न्यायालयों में खाली पदों को भरने के लिए सुप्रीम कोर्ट ने भर्ती प्रक्रिया को अपने हाथ में लेने की चेतावनी राज्य सरकारों को दी और दूसरी यह कि देश भर में जेल सुधारों के सभी पहलुओं को देखने और उन पर सुझाव देने के लिए सुप्रीम कोर्ट के ही पूर्व जज की अध्यक्षता में तीन सदस्यीय समिति का गठन किया। दरअसल, देश की 1382 जेलों में कैदियों की अमानवीय स्थिति के बारे में 2013 की एक जनहित याचिका पर सुनवाई करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने यह समिति बनाई। कोर्ट ने साफ तौर पर कहा कि कैदियों को जानवरों की तरह जेल में नहीं रखा जा सकता है। हालांकि, यह पहली बार नहीं है जब सर्वोच्च अदालत ने कैदियों की स्थिति पर चिंता जताई है। मई और अक्तूबर, 2016 में भी सुप्रीम कोर्ट ने राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को कई निर्देश देकर जेलों में बढ़ती भीड़ के मुद्दे पर सुझाव मांगे थे। लेकिन कोई भी राज्य या केंद्र शासित प्रदेश तय समय-सीमा के भीतर रिपोर्ट नहीं सौंप सका। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि कैदियों की सुरक्षा और उनके मानवाधिकारों के लिए हमारी सरकारें कितना संजीदा हैं।

सबसे अहम सवाल यह है कि जब देश भर में मानवाधिकारों पर बहस छिड़ी हुई है, तब कैदियों के अधिकारों के लिए सरकारें गंभीर क्यों नहीं हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि सरकारें सिर्फ इसलिए खामोश रहती हैं कि कैदियों का मुद्दा किसी दल के वोट बैंक में इजाफा नहीं करता? या फिर यह मान लिया जाए कि हमारी सरकारें महंगे होते इंसाफ और जेल में कैदियों की बढ़ती भीड़ से होने वाले आर्थिक नुकसान से अनजान हैं। जाहिर है, कैदियों की सुरक्षा और कानूनी तंत्र के बीच की यह लड़ाई चिंता का विषय बनती जा रही है। राष्ट्रीय अपराध रेकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के मुताबिक 2015 में भी क्षमता से चौदह फीसद से ज्यादा कैदी जेलों में बंद थे और कुछ मामलों में तो यह तादाद इससे भी कहीं ज्यादा थी। 2015 के इन आंकड़ों के मुकाबले 2018 तक कैदियों की संख्या में लगातार इजाफा हुआ है, जबकि जेलों की संख्या में कोई खास इजाफा नहीं हुआ। ऐसे में इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता है कि इन जेलों में बंद कैदियों की हालत कितनी बदहाल होगी। एक आंकड़े के मुताबिक जेलों की बदहाल स्थिति के कारण 2015 में 1584 कैदियों की मौत हो गई थी। यदि महिला कैदियों की बात करें तो इस एक साल के दौरान इक्यावन महिला कैदियों की मृत्यु हुई।

जेलों में क्षमता से अधिक कैदी होने की सबसे बड़ी वजह न्यायालयों में लंबित पड़े लाखों मुकदमे हैं। विचाराधीन मामलों के लिहाज से भारत दुनिया का दसवां देश है, जहां 31 मार्च, 2016 तक देश के विभिन्न न्यायालयों में तीन करोड़ से अधिक मामले लंबित थे। एनसीआरबी के मुताबिक देश में प्रत्येक तीन कैदियों में से दो विचाराधीन कैदी हैं। साल 2015 में सड़सठ फीसद मामले विचाराधीन थे और ऐसे मामलों की संख्या में लगातार इजाफा हो रहा है। सवाल है कि इतने मामलों के विचाराधीन होने के पीछे क्या वजहें हैं? दरअसल, इसकी दो वजहें हैं। पहली यह कि भारत की न्याय व्यवस्था जजों और त्वरित अदालतों की कमी से जूझ रही है। देश की विभिन्न अदालतों में अड़तीस फीसद जजों की कमी है। एक आंकड़े के मुताबिक देश के उच्च न्यायालयों में लगभग चार सौ जज कम हैं, जबकि निचली अदालतों में लगभग छह हजार जजों की कमी है। सुप्रीम कोर्ट द्वारा इस बाबत चिंता जताना और भर्ती प्रक्रिया को अपने हाथों में लेने की बात इसी का दूसरा पहलू है।

दूसरी बड़ी वजह है इंसाफ का महंगा होना। यह हैरत की बात है कि किसी व्यक्ति को सिर्फ इसलिए सालों तक जेलों में रहना पड़ता है कि वह जमानत कराने में सक्षम नहीं है। एक रिपोर्ट के मुताबिक जेलों में बंद सत्तर फीसद लोग ऐसे होते हैं जिनके खिलाफ कोई दोष साबित नहीं हो पाता। इनमें से ज्यादातर दलित, मुसलिम और जनजातीय आबादी है जो आर्थिक रूप से कमजोर होती है। ज्यादातर कैदी गरीबी की वजह से सही समय पर जमानत नहीं करा पाते और उन्हें मजबूरन जिंदगी का ज्यादातर हिस्सा जेलों में गुजारना पड़ता है। भारत में जेलों की दयनीय स्थिति की सबसे बड़ी वजह जेल कर्मचारियों की भारी कमी है। नेशनल लीगल सर्विस अथॉरिटी (नालसा) के मुताबिक देश भर की जेलों में कर्मचारियों की अनुमोदित क्षमता 77230 है। लेकिन इनमें से तकरीबन 24588 यानी तीस फीसद से भी अधिक पद खाली हैं। जहां दो सौ पच्चीस कैदियों पर केवल एक मेडिकल स्टाफ है, वहीं सात सौ दो कैदियों पर केवल एक कैदी-सुधारक है। हालांकि सभी राज्य सरकारों को सुप्रीम कोर्ट ने निर्देश दिया था कि वे कैदियों, खासतौर पर पहली बार अपराध करने वालों की काउंसलिंग के लिए परामर्शदाताओं और मदद देने वालों की नियुक्ति करें। इसी तरह, कैदियों के लिए चिकित्सा सहायता की उपलब्धता का अध्ययन करने का भी निर्देश दिया गया था। लेकिन इस दिशा में कोई खास प्रयास नहीं किए गए।

जेलों में कैदियों की हालत खराब होने के लिए जो और बड़े कारण हैं उनमें कैदियों की ज्यादा तादाद के कारण उचित और पर्याप्त भोजन न मिल पाना, रहने और सोने के लिए जगह की भारी कमी और स्वच्छ माहौल का अभाव है। ये ऐसे कारण हैं जो कैदियों की मौत के लिए जिम्मेदार हैं। ऐसे में सवाल है कि जेल सुधार के लिए क्या उपाय हो? व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें तो, जेल सुधार का मसला एक मानवीय मसला है। जेलों का मकसद अपराधियों को सुधार कर एक बेहतर इंसान बनाना होता है। ऐसे में हमारी सरकारों को चाहिए कि वे जेलों को सुधारने के लिए ठोस कदम उठाएं। इसके लिए सबसे पहले तो सरकार को सीआरपीसी की धारा 436 और 436(ए) को प्रभावी रूप से लागू करने की कोशिश करनी होगी। धारा 436 (ए) में साफ तौर पर लिखा है कि अगर किसी कैदी का मामला विचाराधीन है और उसने कथित अपराध के लिए मिलने वाली अधिकतम सजा का आधा समय जेल में गुजार लिया है तो उसे निजी मुचलके पर रिहा कर देना चाहिए। लेकिन अफसोस की बात है कि लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवाधिकारों के लिहाज का दावा करने वाली हमारी सरकारें इस बिंदु पर अक्सर मौन रह जाती हैं।

सच तो यह है कि आजादी के बाद जेल सुधार के लिए कई समितियां बनीं, मसलन- 1983 में मुल्ला समिति, 1986 में कपूर समिति और 1987 में अय्यर समिति। पर इन सारी समितियों के सुझावों को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। यही वजह है कि जेलों की हालत बिगड़ती ही चली गई। कैदियों के सुधार के लिए ऐसा बोर्ड बनाया जाना चाहिए जिसमें समाज के प्रबुद्ध लोग शामिल हों, ताकि उनके जरिए मॉडल जेल मैन्युअल को लागू कराया जाए। साथ ही जेलों में कैदियों के कौशल विकास की व्यवस्था की जाए ताकि बाहर निकलने के बाद उन्हें आजीविका संबंधी समस्या का सामना न करना पड़े।

समझना होगा कि एक जीवित व्यक्ति, वह चाहे जेल में हो या जेल से बाहर, उसे पूरी तरह सम्मान से जीने का अधिकार है। यह सच है कि जेल खुद में एक अलग दुनिया होती है। लेकिन अगर वह इतनी अलग हो कि अमानवीय यातना की जगह में तब्दील हो जाए तो, उसे फौरन बदलने की जरूरत है।

अच्छी मां

कमल कुमार

दुनिया मेरे आगे

इन दिनों बहुत-सी कविताएं 'मां' पर पढ़ने को मिलीं। इनमें से अधिकतर कविताएं पुरुषों की थीं। सभी में मां का अपनी-अपनी तरह से निरूपण था, लेकिन उसका सार एक ही था- मां घास की तरह बिछती है... भाव विह्वल है... मां का दिन-रात अपना कुछ नहीं होता... वह फूल-सी कोमल और पृथ्वी-सी सहनशील होती है... मां को मैंने कभी सोते नहीं देखा... मां चक्की पीसती है... मां चक्की-सी पिसती है। आपसी बातचीत में भी मैंने देखा है कि हर वर्ग के पुरुष मां को अपनी तरह से याद करते हैं। पुलिस महकमे के एक उच्च अधिकारी कह रहे थे कि जब मैं सुबह ड्यूटी पर जाता था, तो मां मेरे कमरे में शेव का पानी और चाय-नाश्ता लेकर आती थी। रात को जब ड्यूटी से देर से लौटता तो वह जागती रहती। अपने हाथ से खाना खिलाती। एक व्यक्ति बता रहे थे कि कैसे उनकी मां उनके कपड़े रखने से लेकर कमरे को ठीक-ठाक करने के सारे काम करती थी। वे गर्व से बता रहे थे उनकी मां बहुत अच्छी थी। वह पूरे घर की देखभाल करती, सबकी जरूरतों का ध्यान रखती, पर कभी अपनी जरूरतों के बारे में नहीं कहती। बीमार होती तो भी काम करती रहती। मां सबको खिलाने के बाद कब और क्या खाती, हमें कुछ नहीं पता चलता। सबके सोने के बाद कब सोती थी, पता नहीं। सुबह उठो तो मां सामने होती।

मेरा मानना है कि जो मां अपने बच्चों को समझाती है कि अपने काम खुद करो, अपनी चीजें खुद संभाल कर रखो, घर में जो भी बन पड़े, योगदान दो, घर के सदस्य होने के नाते जो भी बन पड़े हम सब मिल कर करें, घर की जिम्मेवारी सबकी होती है, वह भी अच्छी मां है। जो मां अहसास कराए कि उसे भी भूख लगती है, वह थकती भी है, बीमार है, उसे देखभाल की जरूरत है, वह भी अच्छी मां है। थोड़ा-सा समय उसे भी अपने लिए मिले तो अपने 'व्यक्ति' को वह जीवित रख सकेगी। घरों में प्रतिभासंपन्न औरतें शादी होने के बाद घर-गृहस्थी में अपनी प्रतिभा खो देती हैं। चित्रकार, संगीतकार, नाटककार और यहां तक कि कामकाजी औरतें भी यह सब छोड़ कर घर गृहस्थी में डूब जाती हैं। कामकाजी और उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियों से शादी के समय नौकरी छोड़ने की शर्त भी रखी जाती है, जिसे करीब सत्रह फीसद लड़कियां मान लेती हैं। शादी के बाद बच्चों की परवरिश के लिए बाईस प्रतिशत लड़कियां नौकरी छोड़ देती हैं। नौकरी किसी तरह बच गई तो उससे घर में भी सब काम करने की अपेक्षा रखते हैं। घर में आर्थिक योगदान के बाद भी उसे कोई रियायत नहीं दी जाती। सुबह खाना बना कर जाए, आए तो खाना बनाए। सबकी देखभाल करे। सबसे पहले उठे, बाद में सोए। अच्छी मां होने का उनके पास कोई और विकल्प नहीं होता। इन्हें ही अच्छी औरतें, अच्छी पत्नियां और अच्छी मांए माना जाता है। यह अवधारणा एकांगी है और पुरुष वर्चस्ववादी समाज के स्वार्थ से प्रेरित है। अच्छी मां के लड़के, अच्छी पत्नी को भी उसी तरह देखते हैं और उससे उनकी वही अपेक्षाएं होती हैं। पर अब समय को बदलना है। औरतों को घर की जिम्मेवारी में घर के सदस्यों की भागीदारी को समझना है। अपने कामों के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रह कर खुद करना है। साथ ही बहन, पत्नी, मां को कुछ समय उनके अपने लिए भी देना है। ताकि उनके भीतर की प्रतिभा, उनकी विशेषता, उनका 'व्यक्तित्व' न मरे। पारिवारिक स्तर पर सोच बदली जाए इसके लिए जरूरी है कि सामाजिक, आर्थिक स्तर पर भी सोच बदले।

पिछले चार-पांच दशकों में मध्यवर्ग की शिक्षित और कामकाजी लड़कियों की संख्या में वृद्धि हुई है। हर जगह योग्यता के अनुसार वे कार्यरत हैं। पर जिस तरह दूसरे देशों में कामकाजी मांओं के बच्चों के लिए वैकल्पिक व्यवस्था है, वह हमारे यहां नहीं है। कई देशों में दिन के स्कूल और देखभाल केंद्र हैं, जहां काम पर जाते समय माएं अपने बच्चों को छोड़ जाती हैं और वापसी में ले लेती हैं। अधिकतर संस्थाओं, विश्वविद्यालयों में काम की जगहों में बच्चों के लिए देखभाल केंद्र की व्यवस्था अनिवार्य होती है। हमारे यहां सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर इसके बारे में सोचा ही नहीं गया। दूसरे देशों की तरह हमारे यहां भी काम करने के खुले घंटे होने चाहिए। सुबह नौ या दस बजे से शाम पांच या छह बजे तक की अपेक्षा दिन में किसी भी समय आकर काम करने की सुविधा हो। इससे घर और बाहर को सुचारु रूप से संभालने में सुविधा होगी। पति-पत्नी अलग-अलग समय में आकर काम कर सकेंगे। एक घर पर रहेगा, दूसरा काम पर आएगा। घर और बाहर बच्चों की देखभाल में संतुलन होगा।

यह भी जरूरी है कि अच्छी बेटी, बहन, पत्नी और मां की परिभाषा को बदला जाए। चुप रहती, सब करती, सब सहती, विचारहीन, दिशाहीन स्त्री, दासता को स्वामित्व मानती अच्छी स्त्री की अपेक्षा एक विचारवान और समझदार स्त्री का आदर किया जाए, ताकि अच्छी मां, पत्नी और अच्छी औरत की परिभाषा को बदला जा सके।

विकास की भेंट

प्रकृति ने हमें उपहार के रूप में जल, जंगल और जमीन भेंट किए हैं जिनके संरक्षण की जिम्मेदारी संपूर्ण समाज की है। जीवन के लिए जीव को जल, जंगल और जमीन में सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है ताकि पारिस्थितिकीय संतुलन अनुकूल बना रहे लेकिन मनुष्य ने विकास की अंधी दौड़ में प्रकृति के इन उपहारों का उपहास उड़ाना शुरू कर दिया है। आज हम विकास के लिए अपने ही भविष्य को दांव पर लगा रहे हैं। उच्चतम न्यायालय के अरावली पर्वतमाला में अवैध खनन पर रोक के फैसले ने हमें फिर से सोचने के लिए मजबूर कर दिया। पर्यावरण संरक्षण के लिए देश में पर्यावरण मंत्रालय और राज्यों में पर्यावरण विभाग कार्यरत हैं लेकिन कारपोरेट घरानों, राजनेताओं और नौकरशाही की तिकड़ी ने पर्यावरण नियमों की धज्जियां उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

हमारे मौलिक कर्तव्यों में पर्यावरण की रक्षा और संवर्द्धन का कर्तव्य भी सम्मिलित है लेकिन हम इसके प्रति अनजान हैं। इसका खमियाजा हमें कभी केरल की बाढ़ त्रासदी के रूप में तो कभी राजस्थान के सूखे के रूप में भुगतना पड़ता है। दिल्ली में ही हवा जहरीली नहीं है, सारे महानगर इसकी चपेट में आ चुके हैं। यह सब हमारे विकास की मार है। हम जब अच्छे जीवन के लिए मौलिक अधिकारों की मांग करते हैं, तो क्या अच्छे जीवन के लिए पर्यावरण संरक्षण के दायित्व को भी नहीं निभाना चाहिए?

हमें पर्यावरण संरक्षण को दायित्व के अलावा अधिकार के रूप में भी देखना चाहिए, मौलिक अधिकार समझना चाहिए। यह असल में हमारे सर्वोत्तम जीवनयापन के अधिकार की मांग है क्योंकि जीने की स्वतंत्रता का अधिकार सीधे हमारे पारिस्थितिकीय संतुलन से जुड़ा है। यदि अब भी इस दिशा में कठोर कदम नहीं उठाए गए तो भविष्य में हमें तमाम दुष्परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहना होगा। उदाहरण के रूप में गंगा, यमुना, ताप्ती, नर्मदा जैसी नदियां हैं, अरावली, विंध्याचल जैसे पर्वत हैं जो हमारे अंधाधुंध विकास की भेंट चढ़ते जा रहे हैं। इसके मद्देनजर हमें पर्यावरण संरक्षण की दिशा में अविलंब ठोस और सकारात्मक कदम उठाने चाहिए।

● *योगेश जांगिड़, काशी हिंदू विश्वविद्यालय*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

मुक्ति कब

संपादकीय 'स्त्री के हक में' (29 दिसंबर) पढ़ा। तीन तलाक को सुप्रीम कोर्ट कभी का गलत कह चुका है। सरकार इस बाबत कानून बनाने में अब तक सफल नहीं हुई है, पर वह पहलकदमी जरूर कर रही है। इस बीच जनवरी 2017 के बाद अब तक तीन तलाक के 477 मामले सामने आ चुके हैं। मुसलिम महिला विवाह संरक्षण अधिकार विधेयक-2018 को लोकसभा की मंजूरी मिल गई है। अब राज्यसभा में इस विधेयक को पास कराना सरकार के लिए टेढ़ी खीर साबित हो रहा है। विपक्ष इस बिल के सजा संबंधी प्रावधानों को लेकर कई सवाल उठा रहा है। दूसरी ओर धर्म के ठेकेदार भी विपक्ष के साथ ताल ठोक रहे हैं। ऐसे में राज्यसभा में बिल पास होने की राह में कई रोड़े सामने आते दिख रहे हैं। आखिर मुसलिम महिलाओं को तीन तलाक से मुक्ति कब मिलेगी?

● *अणदाराम बिश्नोई, नई दिल्ली*

बेटियों की बाजी

भारत में अब बेटों से ज्यादा बेटियां बाजी मार रही हैं। प्रधानमंत्री ने भी 'मन की बात' में ऐसी ही दो बेटियों का जिक्र किया। इनमें एक दक्षिण कश्मीर की बारह साल की हनाया निसार है। उसने दक्षिण कोरिया में अंतरराष्ट्रीय कराटे चैंपियनशिप में गोल्ड मेडल जीत कर देश का नाम रोशन किया है। दूसरी हरियाणा की सोलह वर्षीय रजनी है जिसने जूनियर मुक्केबाजी चैंपियनशिप में गोल्ड मेडल जीत कर देश को गौरवान्वित किया है। रजनी बेहद साधारण परिवार से है और उसके पिता लस्सी बेच कर गुजारा करते हैं। हमें इन बेटियों पर गर्व है। इन्होंने साबित कर दिया है कि देश की बेटियों को बस एक उड़ान की जरूरत है।

● *विविधा, दिल्ली स्कूल ऑफ जर्नलिज्म, दिल्ली*

खटता बचपन

भारत में बच्चों को भगवान का रूप माना जाता है लेकिन विडंबना है कि फिर भी उनसे मजदूरी कराई जाती है। पढ़ने और खेलने-कूदने की उम्र में मजदूरी में खटने से बच्चों का भविष्य अंधकारमय होता जा रहा है। कहने को हमारी सरकारें बाल मजदूरी खत्म करने के लिए बड़े-बड़े वादे और घोषणाएं करती हैं लेकिन नतीजा ढाक के तीन पात रहता है। इतनी जागरूकता के बाद भी भारत में बाल मजदूरी का खात्मा नहीं हो पाया है। गरीब बच्चे इसका सबसे अधिक शिकार हो रहे हैं। बच्चियों तक को स्कूल के बजाय घरों में काम करने के लिए भेज दिया जाता है।

बाल मजदूरी बच्चों के शारीरिक, बौद्धिक और सामाजिक हितों को प्रभावित करती है। इससे वे मानसिक रूप से अस्वस्थ रहते हैं और उनका शारीरिक विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। बाल मजदूरी की समस्या बच्चों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित करती है जो संविधान-विरुद्ध होने के साथ ही मानवाधिकार का सबसे बड़ा उल्लंघन है।

● *सुशील वर्मा, गोरखपुर विश्वविद्यालय*

ऐसी हाजिरी

बच्चों में देशभक्ति की भावना होना बहुत जरूरी है। देश के प्रति वफादारी और देशभक्ति को बढ़ावा देने के लिए गुजरात सरकार ने स्कूलों के लिए नया निर्देश जारी कर दिया है जिसके तहत अब बच्चों को अपनी हाजिरी लगवाने के लिए 'जय हिंद' या 'जय भारत' बोलना होगा। पिछले कुछ समय से देश के कई छात्र आतंकवादी संगठनों से जुड़े हैं। आतंकवादी छात्रों को बरगला कर उन्हें दहशतगर्द बनने के लिए उकसाते हैं। लेकिन जब बचपन से ही बच्चे हाजिरी के समय 'जय हिंद' और 'जय भारत' कहेंगे तो उनमें यह भावना जरूर पैदा होगी कि वे हिंदू या मुसलिम होने से पहले एक भारतीय हैं। गुजरात सरकार का बच्चों में देशप्रेम बढ़ाने का यह अच्छा प्रयास है।

● *निशांत रावत, आंबेडकर कॉलेज, दिल्ली*